अध्याय 1

1
लोकतंत्र में सत्ता की साझेदारी

परिचय

पिछले परिचय में हमने लोकतांत्रिक स्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त किया तथा यह जानने की भी कोशिश कि वैश्विक परिदृश्य में लोकतंत्र का किस प्रकार विकास हुआ ? इस वर्ग के इस अध्याय में यह जानने की कोशिश करेंगे कि सामाजिक विषमता के कारण लोकतंत्र में द्वंद्व में तत्त्व किस प्रकार अंतर्निहित है? जातीय एवं सांप्रदायिक विविधता लोकतंत्र को किस प्रकार प्रभावित करता है? लिंग भेद के आधार पर लोकतांत्रिक व्यवहार किस प्रकार परिवर्तित होता है।

इस अध्याय में हम यह भी देखेंगे कि किस तरह लोकतंत्र सारी सामाजिक विभिन्नताओं, अंतरों और असमानताओं के बीच सामंजस्य बैठाकर उनका सर्वमान्य समाधान देने की कोशिश करता है । इन्हीं अवधारणाओं को आगे बढ़ाते हुए यह भी जानने की कोशिश करेंगे कि सामाजिक विभिन्नता कैसे अलग-अलग रूप धारण करती है और सामाजिक विभिन्नता और लोकतांत्रिक राजनीति किस प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं । हम अध्याय के दूसरे पड़ाव पर इस सामाजिक विभाजन और भेदभाव वाली तीन सामाजिक असमानताओं पर गौर करेंगे यथा – जाति, धर्म और लिंग आधारित सामाजिक विषमता । इन तीन पर आधारित विषमताएँ कैसी है और किस प्रकार राजनीति में अभिव्यक्त होती है, इस पर भी हम बारी-बारी से गौर करेंगे।

लोकतंत्र में द्वन्द्ववाद

लोकतंत्र में द्वन्द्ववाद के तत्त्व :– बच्चो ! हमने नवम् वर्ग के अध्याय -2 में देखा है कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में लोग ही शासन के केन्द्र बिन्दु होते हैं । लोकतंत्र ऐसी शासन

व्यवस्था है जिसमें लोगों के लिए एवं लोगों के द्वारा ही शासन चलाया जाता है । शासन में लोक प्रतिनिधि लोगों के हित का तथा उनके इच्छा का सर्वोपरी महत्त्व देना चाहते हैं । यही कारण है कि शासन के लोकतांत्रिक व्यवहार समाज में उभरते द्वन्द्व (Conflict) से प्रभावित होता है। इसे अच्छी तरह समझने के लिए निम्नवत् कुछ घटनाओं और मुद्दों पर गौर करेंगे । 1961 में मुंबई में मराठियों की संख्या 34 प्रतिशत थी जो 2001 में बढ़कर 57 प्रतिशत से ऊपर हो गई । यह सही है कि दक्षिण भारत के चेन्नई, बंगलूर और हैदराबाद में विकास के कारण दक्षिण भारतीयों की मुंबई आनेवाले तादात काफी कम हो गई । इसीप्रकार, गुजरात के सूरत, अहमदाबाद, बड़ोदरा आदि के विकसित होने के कारण गुजराती प्रवासियों की संख्या मुंबई में कम है ।

अब काम की तलाश में आनेवाले लोग हिन्दी भाषी है । लेकिन वे मीरा-भायवैर, थाणे, कल्याण ओप नवी मुंबई जैसे उपनगर में है । टाटा इन्स्टीच्यूट ऑफ सोसल साईसेज (Tata Institute of Social Sciences) ने एक अध्ययन में पाया कि लगभग 49 प्रतिशत प्रवासी लोग उत्पादन कार्य में लगे हुए हैं । दूसरी ओर, अधिक वेतन और सुविधा पानेवाले सफेदपोश कार्यों में मराठियों का वर्चस्व है जो गरीब भैया (उत्तर भारतीय हिन्दी-भाषी लोग विशेषकर बिहार और उत्तर प्रदेश के लोग) लोगों को दूर-दूराते रहते हैं; जबकि यही गरीब भैया, उत्तर भारतीय लोग, मुंबई में छोटे-छोटे रोजगार के जरिए अपना जीवनयापन तो करते ही हैं, वे वहाँ के मूल निवासियों को अलग-अलग तरीकों में अपनी सस्ती सेवाएँ भी उपलब्ध कराते हैं । यदि भारत सभी भारतीयों का देश है, तो मुंबई सभी भारतीयों का एक प्रदेश है । मुंबई में भारत सरकार के कई सार्वजनिक उपक्रम है जिसमें जनता की कमाई का काफी पैसा लगा है । उत्तर प्रदेश तथा बिहार जैसे पिछड़े राज्यों में बैंक में लोगों ने जितनी राशि जमा की है उसका एक चौथाई हिस्सा ही वहाँ ऋण के रूप में दिया जाता है और यही वजह है कि मुंबई आज भारत की "वित्तीय राजधानी" है । पिछले दिनों कुछ राजनेताओं ने तुष्टीकरण राजनीति अपेक्षा की पूर्ति हेतु मराठी मानुष की भावना भड़का कर उत्तर हिन्दी भाषी क्षेत्रों के नागरिकों को बेरहमी से पीटा और मुंबई छोड़ने को मजबूर किया । कई लोगों की इस मारपीट में मृत्यु भी हो गई ।

इसी प्रकार रेलवे भर्ती बोर्ड की परीक्षा में मैसूर में बिहारी छात्रों के साथ मारपीट की गयी। उत्तर पूर्व असम राज्य में बिहारियों की हत्या की गई । यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि हिंसा

कृत्यों में शिकार होनेवाले की पहचान केवल क्षेत्र विशेष था न कि जाति, धर्म या संप्रदाय । दूसरे शब्दों में मुंबई एवं मैसूर में हिंसात्मक कार्रवाई का आधार क्षेत्रीय विभाजन था । निश्चित रूप से यह लोकतंत्र के स्थापित सिद्धांत देश के किसी भी भाग में रहने तथा निवास स्थान बनाने की स्वतंत्रता के विरुद्ध व्यवहार है । परंतु तुष्टिकरण के नीति के अन्तर्गत सत्ताधारियों द्वारा इसका कठोर विरोध नहीं हो पाता। इस द्वन्द्वात्मक पहलू का सीधा प्रभाव लोकतंत्र के सिद्धांत और व्यवहारों पर पड़ता है ।

फिर मैक्सिको के ओर्लंपिक समारोह में विरोध का रूप नस्ल पर आधारित था । बेल्जियम में देश के 59 प्रतिशत हिस्सा फ्लेमिश इलाके में रहता है और डच बोलता है । शेष 40 प्रतिशत लोग बेलोनिया क्षेत्र में है और फ्रेंच बोलते हैं । राजधानी ब्रुसेल्स में 80 प्रतिशत लोग फ्रेंच बोलते हैं और 20 प्रतिशत डच भाषा । फ्रेंच भाषी लोग जहाँ ज्यादा समृद्ध है । जबकि डच भाषी लोगों की स्थिति संतोषजनक नहीं है । स्वाभाविक है दोनों समूहों में तनाव बढ़ना ही था जिसका तीखा अनुभव ब्रुसेल्स में दिखाई पड़ा । यही द्वन्द्ववाद (Conflict) लोकतांत्रिक शासन की दिशा निर्धारित किया और बेल्जियम में केंद्र सरकार की अनेक शक्तियाँ देश के दो इलाकों की क्षेत्रीय सरकार को सुपूर्द किया गया। यानि राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन नहीं हैं । दोनों समुदाय ने समान प्रतिनिधि वाले ब्रुसेल्स की अलग सरकार है । संस्कृति, शिक्षा और भाषा जैसे मसलों के लिए डच, फ्रेंच और जर्मन बोलनेवाले लोग अपने सरकार के चुनाव का सामुदायिक सरकार बनाते हैं । अर्थात् बेल्जियम में सामाजिक विभाजन का आधार, नस्ल और जाति नहीं है बल्कि भाषा विभाजन का आधार है । श्रीलंका में सामाजिक विभाजन क्षेत्रीय और सामाजिक दोनों स्तर पर है ।

परन्तु ठीक इसके विपरीत भारत में सामाजिक विभाजन बहुत ही जटिल है । यहाँ उत्तर भारतीयों की संस्कृति एवं दक्षिण भारतीयों संस्कृति में बड़ा अंतर है । पुनः भाषायी अंतराल भी बड़ा है । जातियों के बीच संघर्ष एवं तनाव की प्रवृत्ति सर्वव्याप्त है । अगड़ी जातियों एवं पिछड़ी जातियों के हितों में टकराव है । दलितों एवं पिछड़ों की भी अपनी-अपनी समस्याएँ हैं । बिहार में अभी हाल में दलितों एवं महादलितों की एक नयी पहचान निर्धारित हुआ है । इन अंतद्वंद्वों का प्रभाव लोकतंत्र के शासन के विभिन्न तत्त्वों पर पड़ना स्वाभाविक है ।

अब हम इन सामाजिक भेदभाव की उत्पत्ति, इन विभिन्नताओं में सामंजस्य एवं टकराव तथा लोकतंत्र के बदलते स्वभाव को बताते हुए सामाजिक विभाजनों की राजनीति पर विचार करेंगे।

आओ! इन मुद्दों पर विचार करें –

बच्चों, तुमने ऊपरलिखित सारे दृष्यंत को पढ़ा। कुछ खास मुद्दों को तुम्हारे सामने विचारार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इन मुद्दों को चिंतन के उपरांत बताओ कि किन मुद्दों से तुम सहमत हो –

मुद्दा नं० 1. हमारे संविधान के अनुच्छेद 19 में देश के सभी नागरिकों को स्वतंत्रता का मूल अधिकार दिया गया है। भारत के राज्यक्षेत्र में कहीं भी निवास करने और बस जाने का, कोई वृत्ति (occupation) करने, व्यवसाय और कारोबार करने का अधिकार भारत के सभी नागरिकों को प्राप्त है। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 15 के तहत धर्म, वंश, जाति या जन्म स्थान के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव का निषेध किया गया है। संविधान के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि मुंबई में राजठाकरे के नेतृत्व में तथा कथित मराठियों द्वारा उत्तर भारतीयों पर किए गए कृत्य निःसंदेह (absolutely) सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने का एक घिनौना प्रयास है जिसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था होनी चाहिए।

मुद्दा नं० 2. अगर संविधान के अनुच्छेद 15 के छत्र-छाया में किसी नगर या कस्बे में अबाध गति से बहिरा गतों का आगमन होता रहे तो नगर और कस्बे की जनसांख्यकीय चरित्र इतना बदल जायेगा कि वहाँ तमाम तरह की विकृतियाँ पैदा हो जाएगी। इस कस्बे या नगर के स्थानीय नागरिकों के आर्थिक स्रोत का दोहन होना शुरू हो जायेगा। फलतः उनका अस्तित्व संकटमय हो सकता है। अतएव उपद्रवियों के विरुद्ध कार्रवाई करने की अपेक्षा उनके स्थानीय हितों पर चिंतन करना चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया गया तो मुंबई, दिल्ली या कोलकाता के अलावा कई नगरों के नागरिक सुविधा चरमराने लगेगी और विभिन्न सामुदायिक समूहों के बीच वैमनस्य पैदा होने लगेगा। निश्चित रूप से लोकतंत्र के पावन सिद्धांत के विरुद्ध .... राजनेता राजनीति लाभ के लिए देश के सहिष्णुता तथा अखंडता के विचारधारा को चकनाचूर कर देगा।

मुद्दा नं० 3. जाति और नस्ल (Caste and Race) समान (identical) नहीं है क्योंकि जाति का आधार सामाजिक होता है और नस्ल का आधार जीवशास्त्री है । अतएव नस्ल के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना भी जीव शास्त्रीय एवं स्वाभाविक है । जातीय शोषण के विरुद्ध आवाज उठाना तो ठीक माना जा सकता है । अतएव, मेरा मत है कि स्मिथ, कार्लोस और नार्मन को नस्ल विरोधी प्रतिकार मैक्सिको ओलंपिक समारोह में करना उसके विवेकपूर्ण औचित्य कभी नहीं माना जा सकता ।

मुद्दा न० 4. नस्ल विशुद्ध रूप से जीवशास्त्रीय नहीं है । यह जाति की तरह ही काफी हद तक समाज शास्त्रीय और वैधानिक वर्गीकरण है, जो लोकतांत्रिक देश के लिए द्वन्द्व का एक विध्वंसकारी तत्त्व है । अतएव परिस्थिति में इसका प्रतिकार होना चाहिए ।

लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सामाजिक विभाजन के स्वरूप

उल्लिखित दृष्टांतों पर गौर करेंगे तो देखेंगे कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में सामाजिक विभाजन के विभिन्न स्वरूप होते हैं और इस भेदभाव का विरोध के अपने अलग-अलग तरीके भी होते हैं।

क्षेत्रीय भावना के आधार पर सामाजिक बंटवारा और भेदभाव होता है और विरोध और संघर्ष की शुरुआत हो जाती है । जिसकी चर्चा अगले अध्याय में की गई है । मुंबई, दिल्ली तथा कोलकाता में उत्तर भारत के बिहारी तथा उत्तर प्रदेश के लोगों के विरुद्ध हिंसात्मक व्यवहार इसका सर्वोत्तम उदाहरण है ।

नस्ल या रंग के आधार पर भेदभाव का सटीक उदाहरण मैक्सिको ओलंपिक 1968 के पदक समारोह में देखा जा सकता है । वहीं ओलंपिक मुकाबले के 200 मीटर की दौड़ के पदक समारोह में विजेता ऐफ्रो अमेरीकी धावक टोमी स्मिथ और जॉन कार्लोस नामक व्यक्ति इसी समारोह में अमेरीकी अश्वेत पर अत्याचार और नस्ल आधारित भेदभाव को अपने व्यवहार से उजागर किया । आस्ट्रेलियाई धावक पीटर नार्मन जो न तो अमेरीकी थे और न ही अश्वेत ने भी नस्ल आधारित विभेद का विरोध जॉन कार्लोस और स्मिथ का साथ देकर किया । बेल्जियम एवं

श्रीलंका में यह विभाजन क्षेत्रीय और सामाजिक दोनों स्तर पर मौजूद था । श्रीलंका में बंटवारा भाषा और क्षेत्र दोनों आधारों पर दिखाई देता है । भारत में सामाजिक विविधता कई रूपों में है। भाषा, क्षेत्र, संस्कृति, धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर भारत में सामाजिक विभाजन है ।

सामाजिक भेदभाव एवं विविधता की उत्पत्ति

व्यक्ति को समुदाय या जाति का चुनाव करना उसके वश की बात नहीं है। जन्म के कारण ही कोई व्यक्ति किसी समुदाय का सदस्य हो जाता है । दलित परिवार में जन्म लेनेवाला बच्चा उस समुदाय का स्वाभाविक सदस्य हो जाता है । स्त्री, पुरुष, काला-गोरा, लम्बा-नाटा आदि जन्म का परिणाम है । इस तरह के सामाजिक विभाजन जन्म आधारित सामाजिक विभाजन कहलाता है ।

परन्तु सभी सामाजिक विभाजन जन्म आधारित नहीं होते । बल्कि कुछ हम अपने इच्छा से चुनते भी हैं । यथा, कई व्यक्ति अपने इच्छा से धर्म परिवर्तन करता है और दूसरे समुदाय का सदस्य बन जाता है । कुछ व्यक्ति नास्तिक बन जाता है, हालाँकि उस परिवार के सभी सदस्य आस्तिक ही क्यों न हो। एक ही परिवार का कोई सदस्य शैव, शाक्त, वैष्णव धर्म में विश्वास कर सकता है । यह भी व्यक्ति के इच्छा पर निर्भर करता है कि एक ही परिवार के सदस्य अपने विवेक से भिन्न कोई पेशा चुन सकता है ।

यह संभव है कि एक ही परिवार के कई लोग किसान, सरकारी सेवक, व्यापारी, वकील आदि पेशा अपनाते हो । फलतः उनका समुदाय अलग हो जाता है तथा समुदायों के हित साधना एक-दूसरे के विपरीत भी हो सकती है ।

सामाजिक विभिन्नता और सामाजिक विभाजन में अंतर - कोई आवश्यक नहीं है कि सभी सामाजिक विभिन्नता सामाजिक विभाजन का आधार होता है । संभव हो भिन्न समुदायों के विचार भिन्न हो सकते हों । परन्तु हित समान होगा । उदाहरण के लिए मुंबई में मराठियों के हिंसा का शिकार व्यक्तियां की जातियाँ भिन्न थी, धर्म भिन्न होंगे लिंग भिन्न हो सकता है। परन्तु, उनका क्षेत्र एक ही था । वे सभी एक ही क्षेत्र उत्तर भारतीय थे । उनका हित

समान था और वे सभी अपने व्यवसाय और पेशा में संलग्न थे । इस कारण सामाजिक विभिन्नता सामाजिक विभाजन का रूप नहीं ले पाता । यद्यपि सामाजिक विभिन्नता के कारण लोगों में विभेद की विचारधारा जरूर बनती है, परंतु यही विभिन्नता कहीं–कहीं पर समान उद्देश्य के कारण मूल का काम भी करता है । आस्ट्रेलिया में रहनेवाले भारतीय विद्यार्थी भारतीय समाज के विभिन्न समुदाय से संबद्ध हो सकते हैं, परन्तु, अपने समूहों के सीमाओं से परे, उनके समान उद्देश्य के कारण समानता थी और यही कारण है कि सभी भारतीय छात्र कुछ उपद्रवी आस्ट्रेलियायियों के हिंसा के शिकार हुए । उसी प्रकार कार्लोस और स्मिथ दोनों एफ्रो अमेरिकी थे और एक दृष्टि से समान थे अर्थात् अश्वेत अमेरिकी । तथापि नार्मन श्वेत आस्ट्रेलियाई था । परन्तु तीनों में एक समानता तो जरूर थी कि वे तीनों नस्लवाद के खिलाफ थे । सभी हिन्दु धर्मावलंबी, ईसाई धर्मावलंबी, जैन धर्मावलंबी, बौद्ध धर्मावलंबी, मुस्लिम धर्मावलंबी एक ही समुदाय और जाति के सदस्य है । यद्यपि धर्म के आधार पर उनमें एकता हो सकता है परंतु संभव हो क्षेत्र, जाति, रंग, लिंग के आधार पर उनमें विपरीत विचारधारा हो । पुनः अलग–अलग धर्म के लोगों को एक ही समुदाय के सदस्य होने के कारण अथवा एक ही नस्ल, जाति रंग के होने के कारण एक विचारधारा के पोषक हो सकते हैं । यहाँ तक कि एक ही संयुक्त परिवार के गरीब और अमीर सदस्यों के बीच विचारधारा का संघर्ष हो सकता है ।

अतएव, निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि हम सभी की एक से ज्यादा पहचान होती है, वे एक से ज्यादा सामाजिक समूहों का हिस्सा हो सकते हैं । एक वाक्य में अगर कहा जाए तो हम कह सकते हैं कि हर संदर्भ में हमारी पहचान एक अपना स्वरूप बनाता है ।

सामाजिक विभाजन एवं विभिन्नता में बहुत बड़ा अंतर है । सामाजिक विभाजन तब होता है जब कुछ सामाजिक अन्तर दूसरी अनेक विभिन्नताओं से ऊपर और बड़े हो जाते हैं (social difference overlaps with other differences) । सवर्णों और दलितों का अंतर एक सामाजिक विभाजन है, क्योंकि दलित संपूर्ण देश में आमतौर पर गरीब, वंचित एवं बेघर है और भेदभाव का शिकार है जबकि सवर्ण आम तौर पर सम्पन्न एवं सुविधा युक्त है । अर्थात् दलितों को महसूस होने लगता है कि वे दूसरे समुदाय के हैं । अतः हम कह सकते हैं कि जब

एक तरह का सामाजिक अंतर अन्य अंतरों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन जाता है और लोगों को यह महसूस होने लगता है कि वे दूसरे समुदाय के हैं तो इससे सामाजिक विभाजन की स्थिति पैदा होती है। अमेरिका में श्वेत और अश्वेत का अंतर सामाजिक विभाजन है ।

कभी–कभी ऐसा दिखाई पड़ता है कि सामाजिक असमानताएँ कई समूह में मौजूद रहता है। अर्थात् किसी एक मुद्दे पर कई समूह के हित एक जैसे होते हैं, जबकि किसी दूसरे मुद्दे पर दृष्टिकोण में अंतर हो सकते हैं । उदाहरणार्थ, सभी धर्मों में दलित एवं वंचित वर्गों का हित समान होता है । अतएव इनके समाज हित के मुद्दे पर एकता रहती है जबकि धार्मिक दृष्टिकोण में अंतर एवं तनाव की स्थिति बन सकते हैं । विश्व स्तर पर भी यह विभाजन स्पष्ट दिखाई पड़ता है । उदाहरणस्वरूप, उत्तरी आयरलैंड और नीदरलैंड दोनों ईसाई बहुल देश है । यहाँ के लोग प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक दो खेमे में बँटे हुए हैं । परन्तु दोनों गुटों के बीच सामाजिक विभाजन का आधार एक जैसा नहीं है । उत्तरी आयरलैंड के कैथोलिक समुदाय गरीब है एवं वंचित है । लंबे समय से शोषण का शिकार है । अतएव उत्तरी आयरलैंड में वर्ग और धर्म के बीच गहरी समानता है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिकों के बीच संपूर्ण रूप से समानता एवं एकता दिखाई देती है । जबकि नीदरलैंड में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों में अमीर–गरीब है । अतएव उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटो के बीच सीधे रूप से मार–काट चलता रहता है, जबकि नीदरलैंड में ऐसा कुछ नहीं है क्योंकि वहाँ धर्म और वर्ग के बीच कोई मेल नहीं दिखाई देता । कोई भी देश चाहे बड़ा हो या छोटा, सामाजिक विभाजन और विभिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई देता है ।

टकराव एवं सामंजस्य लोकतंत्र की सीढ़ीयाँ है जिससे गुजरकर ही लोकसत्ता अपनी नीतियाँ निर्धारित करती है । ये नीतियाँ आसानी से निर्धारित नहीं हो पाते बल्कि प्रतिद्वंद्विता के कठिन परिवेश से गुजरते हुए सामंजस्य का माहौल बनाने का प्रयास करता है । पुनः परिस्थिति के परिणामस्वरूप सभी संघर्ष गुट अंततः इसे स्वीकार कर ही लेते हैं और नीतियाँ निर्धारित हो ही जाती है । पिछड़ों के लिए सरकारी नौकरियों एवं शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण की मुहिम कई वर्षों पहले शुरू हुआ । काका कालेस्कर लेकर रिपोर्ट से लेकर मंडल आयोग के सिफारिश के बीच लंबे जदोजइद के बीच तथा हिंसक तनावों के बाद आरक्षण की व्यवस्था लागू हो पाई ।

ऐसी जब भी स्थिति बनती है तो राजनीतिक पार्टियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता (conflict) का माहौल पैदा हो जाता है । और राजनीति पर जातीय लेबल लगना शुरू हो जाता है ।

जाति का राजनीति पर प्रभाव – दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जाति राजनीति पर प्रभावी हो जाता है और सामाजिक न्याय के आवरण तले राजनीति का दिशा निर्धारण होने लगता है । भारतीय राजनीति के परिदृश्य पर जब हम दृष्टिपात करेंगे तो ऐसे अवधारणाओं में हम जरूर परिचित होंगे ।

सत्तर के दशक में भारतीय समाज में दलितों के पीड़ा का मार्मिक व्याख्यान महाराष्ट्र के कवि नामदेव ढसाल की इन कविता में अंतर्निहित है –

सदियों तक सफर किया !
उन लोगों ने !!
लेकिन अब हमें कहना है;
ना! अँधेरे की इस पथ यात्रा से ! हाँ ! हमारे पूरखे, अँधेरे को ढोते-ढोते झुक गए, लेकिन अब हमें उतारना है,
बोझ उनके पीठ से !!
इस अनुपम नगर के लिए हीं,
विखड़ा था हमारा लहू,
और बदले में यह मिला खाने को पत्थर .....

सत्तर के दशक की यह कविता कमोवेश संपूर्ण भारत के सामाजिक संरचना की ओर ध्यान आकृष्ट करता है तथा यह बताता है कि दलित जातियों के अस्तित्व की पहचान और पहुँच राजनीति से कोसो दूर था ।

सत्तर के दशक के पूर्व भारत की राजनीति अवचेतना सुविधा परस्त हित समूह के बीच झुलती रही । दूसरे शब्दों में कहे तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 1967 तक राजनीति में सवर्ण जातियों का वर्चस्व रहा । सत्तर से नब्बे तक के दशक के बीच सवर्ण और मध्यम पिछड़े जातियों में सत्ता कब्जा के लिए संघर्ष चला । नब्बे दशक के उपरांत पिछड़े जातियों का वर्चस्व तथा

दलितों की जागृति की अवधारणाएँ राजनीति गलियारों में उपस्थिति दर्ज कराती रही और नीतियों को प्रभावित करती रही । भारतीय राजनीति के इस महामंथन में पिछड़े और दलितों का संघर्ष प्रभावी रहा । आधुनिक दशक के वर्षों में राजनीति का पलड़ा दलितों और महादलितों (बिहार के संदर्भ में) के पक्ष में झुकता दिखाई दे रहा है । सरकार के नीतियां के सभी परिदृश्यों में दलित न्याय की पहचान सबके केन्द्र बिन्दु का विषय बन गया है ।

भारत ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के राजनीति का कमोवेश यही सूरत रही है । राजनीति दल समाज में मौजूद विभाजनों के हिसाब से राजनीति होड़ करने लगती है । इस तरह सामाजिक विभाजन राजनीतिक विभाजन बन जाती है । अगर विभिन्न संघर्षरत तत्त्वों के बीच राजनीतिक सामंजस्य स्थापित नहीं की जाए तो देश विघटन की तरफ जा सकता है । उत्तरी आयरलैंड का उदाहरण लें, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है । उत्तरी आयरलैंड ग्रेट–ब्रिटेन का एक हिस्सा है जो काफी समय से हिंसा, जातीय कटुता और राजनीतिक टकराव के गिरफ्त में रहा है । यहाँ की आबादी मुख्यत: ईसाई ही है और ये ईसाई दो प्रमुख पंथ में बुरी तरह बँटे हुए हैं । 53 फीसदी आबादी प्रोटेस्टेंट है जबकि 44 फीसदी रोमन कैथोलिकों का प्रतिनिधित्व नेशनलिस्ट पार्टियाँ करती हैं । उनकी माँग है कि उत्तरी आयरलैंड को आयरलैंड गणराज्य के साथ मिलाया जाए, जो मुख्यत: कैथोलिक बाहुल्य है । प्रोटेस्टेंट लोगों का प्रतिनिधित्व यूनियनिस्ट पार्टियाँ करते हैं, जो ग्रेट–ब्रिटेन के साथ ही रहने के पक्ष में है । क्योंकि ब्रिटेन मुख्यत: प्रोटेस्टेंट है । यूनियनिस्ट एवं नेशनलिस्टों के बीच चलनेवाले हिंसक टकराव में ब्रिटेन के सुरक्षा बलों सहित सैकड़ों लोग और सेना के जवान मारे जा चुके हैं । 1998 में ब्रिटेन की सरकार और नेशनलिस्टों के बीच शांति समझौता हुआ, जिसमें दोनों पक्षों ने हिंसक आंदोलन को बंद करने की बात स्वीकार की । युगोस्लाविया में कहानी का ऐसा सुखद अंत नहीं हुआ । वहाँ धार्मिक और जातीय विभाजन के आधार पर शुरू हुई राजनीतिक होड़ में युगोस्लाविया कई टुकड़ों में बंट गया ।

दुनिया के अधिकतर देशों में किसी–न–किसी किस्म का सामाजिक विभाजन है और ऐसे विभाजन राजनीतिक शक्ल भी अख्तियार करती ही है । लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के लिए सामाजिक विभाजनों की बात करना और विभिन्न समूहों से अलग–अलग वायदे करना बड़ी

स्वाभाविक बात है। विभिन्न समुदायों को उचित प्रतिनिधित्व देने का प्रयास करना और विभिन्न समुदायों की उचित माँगों और जरूरतों को पूरा करनेवाली नीतियाँ बनाना भी इसी कड़ी का हिस्सा है। अधिकतर देशों में मतदान के स्वरूप और सामाजिक विभाजनों के बीच एक प्रत्यक्ष संबंध दिखाई देता है। कई पार्टियाँ अपने समुदाय पर ध्यान देती है और उसी के हित में राजनीति करती है। पर इसकी परिणति देश के विखंडन में नहीं होता।

सामाजिक विभाजन के तीन निर्धारक तत्त्व – सामाजिक विभाजन की राजनीति तीन तत्त्वों पर निर्भर करती है –

प्रथम : लोग अपनी पहचान स्व-अस्तित्व तक ही सीमित रखना चाहते हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में राष्ट्रीय चेतना (national thought) के अलावा उपराष्ट्रीय (sub-national) या स्थानीय चेतना (regional thought) भी होते हैं। कोई एक चेतना बाकी चेतनाओं की कीमत पर उग्र होने लगती है तो समाज में असंतुलन पैदा हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब तक उत्तरी आयरलैंड के लोग खुद को सिर्फ प्रोटेस्टेंट या कैथोलिक के तौर पर देखते रहेंगे तब तक उनका संघर्ष नहीं थम पायेगा। फिर जबतक बंगाल बंगालियों का, तमिलनाडु तमिलों का, महाराष्ट्र मराठियों का, आसाम असमियों का, गुजरात गुजरातियों की भावना का दमन नहीं होगा तबतक भारत की अखंडता, एकता तथा सामंजस्य खतरा में रहेगा। अतएव उचित यही है कि पहचान (recognition) के लिए सभी चेतनाएँ अपने-अपने मर्यादा में रहे और एक-दूसरे के सीमा में दखल न दें। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अगर लोग अपने बहु-स्तरीय (multiple identities) पहचान को राष्ट्रीय पहचान (national identities) का हिस्सा मानते हैं तो कोई समस्या नहीं हो सकती। उदाहरण स्वरूप, बेल्जियम के अधिकतर लोग खुद को बेल्जियाई (Belgian) ही मानते हैं, भले ही वे डच और जर्मन बोलते हैं। हमारे देश में भी ज्यादातर लोग अपनी पहचान को लेकर ऐसा ही नजरिया रखते हैं। भारत विभिन्नताओं का देश है, फिर भी सभी नागरिक सर्वप्रथम अपने को भारतीय मानते हैं। तभी तो हमारा देश अखंडता और एकता का प्रतीक है।

द्वितीय : दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कि किसी समुदाय या क्षेत्र विशेष की माँगों को राजनीति दल कैसे उठा रहे हैं। संविधान के दायरे में आनेवाली और दूसरे समुदाय को नुकसान न पहुँचाने वाली माँगों को मान लेना आसान है। ऊपर लिखित वृत्तांत से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार सत्तर के दशक के पूर्व का राजनीतिस्वरूप तथा अस्सी एवं नब्बे के दशक में राजनीति परिदृश्य में बदलाव हुआ और भारतीय समाज में सामंजस्य अभी तक बरकरार है। इसके विपरीत युगोस्लाविया में विभिन्न समुदाय के नेताओं ने अपने जातीय समूहों की तरफ से ऐसी माँगे रख दी जिन्हें एक देश की सीमा के भीतर पूरा करना असंभव था। फलतः युगोस्लाविया टुट गया और टुकड़ों में बँट गया।

तृतीय : सामाजिक विभाजन की राजनीति का परिणाम सरकार के रूप पर भी निर्भर करता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि सरकार इन माँगों पर क्या प्रतिक्रियाँ व्यक्त करते हैं। अगर भारत में पिछड़ों एवं दलितों प्रति न्याय की माँग को सरकार शुरू से ही खारिज करती रहती तो आज भारत विखराव के कगार पर होता, लेकिन सरकार इनके सामाजिक न्याय को उचित मानते हुए सत्ता में साझेदारी बनाया और इनकी देश के मुख्य धारा में जोड़ने का ईमानदारी से प्रयास किया। फलतः छोटे-मोटे संघर्ष के बावजूद भी भारतीय समाज में समरसता और सामंजस्य स्थापित है। पुनः बेल्जियम में भी सभी समुदायों के हितों को सामुदायिक सरकार में उचित प्रतिनिधित्व दिया गया। परन्तु श्रीलंका में राष्ट्रीय एकता के नाम पर तमिलों के न्यायपूर्ण माँगों को दबाया जा रहा है। ताकत के दम पर एकता बनाए रखने की कोशिश अक्सर विभाजन की ओर ले जाते हैं।

लोकतंत्र में सामाजिक विभाजन की राजनीतिक अभिव्यक्ति एक सामान्य बात है और यह एक स्वस्थ राजनीति का लक्षण भी है। राजनीति में विभिन्न तरह से सामाजिक विभाजनों की अभिव्यक्ति ऐसे विभाजनों के बीच संतुलन पैदा करने का भी काम करती है। परिणामतः कोई भी सामाजिक विभाजन एक हद से ज्यादा उग्र नहीं हो पाता और यह प्रवृत्ति लोकतंत्र को मजबूत करने में सहायक भी होता है। लोग शांतिपूर्ण और संवैधानिक तरीके से अपनी माँगों को उठाते हैं और चुनावों के माध्यम से उनके लिए दबाव बनाते हैं, उनका समाधान पाने का प्रयास करते हैं।

(ख) सामाजिक विभाजन में जाति, धर्म और लिंग विभेद के स्वरूप

सामाजिक विभाजन के तीन अभिव्यक्तियों में जाति की अवधारणा अति महत्त्वपूर्ण है । राजनीति में इनके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू की महत्ता है । जाति व्यवस्था राजनीति में कई तरह की भूमिका निभाती है । एक तरफ राजनीति में जातीय विभिन्नताएँ और असमानताएँ वंचित और कमजोर समुदायों के लिए अपनी बातें आगे बढ़ाने और सत्ता में अपनी हिस्सेदारी माँगने की गुंजाईस भी पैदा करती है । इस अर्थ में जातिगत राजनीति ने दलित और पिछड़ी जातियों के लोगों के लिए सत्ता तक पहुँचने तथा निर्णय प्रक्रिया को बेहतर ढंग से प्रभावित करने की स्थिति भी पैदा की है । तो दूसरी ओर सिर्फ जाति पर जोर देना नुकसानदेह भी हो सकता है । सिर्फ जातिगत पहचान पर आधारित राजनीति लोकतंत्र के लिए शुभ नहीं होता ।

जातिगत असमानताएँ

दुनिया भर के सभी समाज में सामाजिक असमानताएँ और श्रम विभाजन पर आधारित समुदाय विद्यमान है । भारत इससे अछुता नहीं है। भारत की तरह दूसरे देशों में भी पेशा का आधार वंशानुगत है । पेशा एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में स्वमेव चला आता है । पेशे पर आधारित सामुदायिक व्यवस्था ही जाति कहलाती है । यह व्यवस्था जब स्थायी हो जाता है तो श्रम विभाजन का अतिवादी रूप कहलाता है । जिसे हम जाति के नाम से पुकारने लगते हैं । यह एक खास अर्थ में समाज में दूसरे समुदाय से भिन्न हो जाता है । इस प्रकार के वंशानुगत पेशा पर आधारित समुदाय, जिसे हम जाति कहते हैं, की स्वीकृति रीति-रिवाज (Ritual) से भी हो जाती है । इनकी पहचान एक अलग समुदाय के रूप में होता है और इस समुदाय के सभी व्यक्तियों की एक या मिलती-जुलती पेशा होती है । इनकी बेटे-बेटियों की शादी आपस के समुदाय में ही होता है तथा खान-पान भी समान समुदाय में ही होता है । अन्य समुदाय में इनके संतानों की शादी न तो हो सकते हैं और न ही करने की कोशिश करते हैं । महत्त्वपूर्ण पारिवारिक आयोजन और सामुदायिक आयोजन में अपने समुदाय के साथ एक पांत में बैठकर

भोजन करते हैं । कहीं-कहीं तो ऐसा देखा गया है कि अगर इस एक समुदाय के बेटा या बेटी दूसरे समुदाय के बेटा या बेटी से शादी कर लेते हैं तो उसे पांत से काट दिया जाता है । अपने समुदाय से हटकर दूसरे समुदाय में वैवाहिक संबंध बनाने वाले परिवार को समुदाय से निष्कासित भी कर दिया जाता है ।

वर्ण-व्यवस्था–वर्ण-व्यवस्था जातिगत समुदाय का बड़ा वर्ग है । इस वर्ग में कई जातियाँ समाहित है । अर्थात वर्ण व्यवस्था जाति समूहों का पदानुक्रम व्यवस्था है, जिसमें एक जाति के लोग हाल में सामाजिक पायदान में सबसे ऊपर रहेंगे तो किसी अन्य जाति समूह के लोग क्रमागत के क्रम से नीचे । उदाहरणार्थ हिन्दुओं में वर्ण-व्यवस्था का व्यवस्थित स्वरूप है। जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र का क्रमानुसार व्यवस्था है । शुरू में यह व्यवस्था केवल श्रम-विभाजन पर आधारित था और श्रम के अलावा उनमें आपस में खान-पान तथा शादी-विवाह भी होता था। परन्तु कालांतर में यह व्यवस्था कठिन एवं स्थायी होता गया तथा शादी-विवाह एवं खान-पान भी एक वर्ण तक ही सीमित रह गया । पुनः एक वर्ण में कई सामुदायिक व्यवस्थाएँ हो गई जो समुदाय का अतिवादी व्यवस्था है । इसे जातिगत व्यवस्था कहते हैं । पुनः इन जातियों में उपजातियाँ भी बनने लगी । यह प्रवृत्ति भारतीय समाज के जातिगत व्यवस्था का नकारात्मक पहलू है । वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वैश्य समुदाय शुद्र की स्थिति असंतोषजनक है। जबकि ब्राह्मण और क्षत्रिय की स्थिति सुविधाजनक है । भारतीय समाज पूर्णरूप से अगड़े और पिछड़े जातियों में विभाजित हो गये । राजनीति की सत्ता की बागडोर पूर्व में आज भी उच्च जातियों के हाथ में रही और इन समुदायों के लोगों ने सत्ता में संतोषजनक हिस्से का भागीदार बने । परन्तु वर्ण के नीचले पदक्रम पर उपस्थित जातियाँ अंत्यज (untouchable) कहलाने लगी । इन अंत्यज जातियों के साथ छुआ-छूत का व्यवहार होने लगा । 'अंत्यज' (untouchables) समुदाय में सम्मिलित दलित जातियाँ सत्ता से पूर्णरूपेण बँचित रही । परन्तु पिछले शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय राजनीति का स्वरूप बदला और धीरे-धीरे दलित जातियों में जागृति हुई । ज्योतिबा फुले, महात्मा गाँधी, डॉ० भीमराव अंबेदकर और पेरियार रामास्वामी नैयर जैसे राजनेताओं और समाज सुधारकों ने जातिगत भेदभाव से मुक्त समाज की व्यवस्था बनाने की बात की और इसमें सफल भी हुए । इन महापुरुषों के प्रयास एवं पिछड़े दलितों तथा बँचित

समुदाय में जागृति के फलस्वरूप आधुनिक भारत में जाति की संरचना और जाति व्यवस्था में भारी बदलाव हुआ है । सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन ने भी जाति व्यवस्था को ढाहने की कोशिश में अहम् भूमिका निभायी है । चतुर्दिश आर्थिक विकास, साक्षरता दर एवं शिक्षा में वृद्धि, पेशा चुनने की आजादी तथा शहरीकरण का बढ़ता दायरा ने भी जाति-व्यवस्था को कमजोर किया । गाँव में भी जाति व्यवस्था के पुराने स्वरूप तथा वर्ण व्यवस्था पर टिकी मानसिकता में बदलाव आ रहा है । गाँव की अपेक्षा शहरों में जाति-व्यवस्था के पुराने स्वरूप तथा जातिगत संकीर्ण मानसिकता में तेजी से बदलाव आया है क्योंकि शहर में एक ही मोहल्ले में कई जातियों के लोग बसते हैं और पड़ोसीपन की भावना के कारण उनके विचार में ज्यादा उदारता पनपने लगी है । खान-पान तो निश्चित रूप से जातीय समुदाय तक सीमित नहीं रही बल्कि मोहल्ले के वासियों में पारिवारिक आयोजन तथा अन्य अवसरों पर पूरे मोहल्ले में सभी व्यक्ति एक साथ एवं एक पांत में भोजन करने से नहीं हिचकते । अंतर्जातीय एवं अंतर धार्मिक शादियों पर समुदाय में आश्चर्य नहीं होता । होटल, ट्रेन या बस में एक साथ बैठकर सफर करने में किसी को कोई एतराज नहीं होता । हमारे संविधान के तृतीय भाग में जातिगत भेदभाव का निषेध किया गया है। संविधान में प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता दी गई है कि वह अपने इच्छा से पेशा का चयन कर सकता है । संविधान में उल्लिखित जाति भावना को निषेध करनेवाली व्यवस्था के अंतर्गत सरकार ने नीतियाँ बनायी तथा छुआ-छूत की भावना को अपराधिक कृत्य घोषित किया । इसके लिए दंड का भी प्रावधान किया गया है ।

फिर भी भारत में जाति-प्रथा का पूर्णरूपेण उन्मूलन नहीं हो सका है । अधिकांश शादी-व्याह अपने जाति में ही होता है और इसे उत्तम माना गया है । स्पष्ट संवैधानिक प्रावधान के बावजूद हमारे समाज में अभी भी छुआ-छूत विद्यमान है । सदियों से कुछ जातीय समूह लाभकर स्थिति में है; तो कुछ को दबाया जा रहा है । कुछ सशक्त जातियाँ पहले से ही शिक्षा में अग्रणी रहे हैं जिस कारण शिक्षा में अभी भी उन्हीं का बोलवाला है । कुछ जातीय समुदाय (दलित जातियाँ) अभी भी शिक्षा से बंचित है । स्वाभाविक है कि वे पिछड़े हैं । यही कारण है कि शहरी मध्यम वर्ग में सबल जातीय समुदाय का अनुपात ज्यादा है और उनमें जागृति भी ज्यादा है । चूँकि जाति और आर्थिक हैसियत में निकट का संबंध है, अतएव उनकी सामाजिक

हैसियत भी अच्छी है । समाज में वर्चस्व है । दूसरे शब्दों में कहें तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी कि आर्थिक असमानता का एक महत्त्वपूर्ण आधार जाति भी है । जिस जाति की पहुँच विभिन्न संसाधनों पर अधिक होगा वे संपन्न होंगे और जिसकी पहुँच इन संसाधनों तक नहीं हो पाती वे जातियाँ पिछड़े अथवा बंचित होगी । पुराने जमाने में अछुत (untouchables) या शुद्र को जमीन रखने का अधिकार नहीं था । प्राचीन काल में दलित को शिक्षा पाने का अधिकार भी नहीं था । 'द्विज' जातियों को ही शिक्षा पाने का अधिकार था । यद्यपि आज जाति पर आधारित इस प्रकार की भावना का निषेध कर दिया गया है और इस प्रकार के कृत्य गैर-कानूनी घोषित है । फिर भी सदियों से जिस प्रवृत्ति ने तथा वंचित कुछ जातीय समुदाय को लाभ या घाटा में रखा, उसका असर अब भी समाज में मौजूद है । इन असमानताओं को पूरी तरह तो नहीं ही मिटाया जा सका । बल्कि कुछ अन्य तरह के असमानताओं की भी वृद्धि हुई है ।

परंतु सामाजिक संरचना में औसतन बदलाव तो हुआ ही है । जाति और आर्थिक स्थिति की पुरानी परिस्थितियाँ अब पूरी तरह बरकरार नहीं है, बल्कि इसे बदलाव हुआ है ।

जातीय सामाजिक संरचना तथा आर्थिक हैसियत के निर्धारण की कुछ विशेषताएँ हैं जो समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है । इस संदर्भ में कुछ निम्न बिन्दुओं पर गौर किया जा सकता है–

1. औसत आर्थिक हैसियत (the average economic status) का संबंध वर्ण-व्यवस्था से गहरा है । अर्थात् ऊँची जातियों की स्थिति सबसे अच्छी है । दलित और आदिवासियों की स्थिति बदतर है । पिछड़ी जातियों की स्थिति मध्यम दर्जे का है ।

2. यद्यपि हर जातियों में अमीर-गरीब है, परन्तु निचली जातियाँ यथा दलितों, आदिवासियों में ज्यादा बड़ी संख्या में गरीबी है । दलितों में महादलितों की स्थिति तो और भी दयनीय है। अर्थात् गरीबी रेखा (प्रति व्यक्ति प्रतिमाह 327 रुपये (ग्रामीण) और 455 रुपये (शहरी) से कम खर्च करनेवाले (लोग) से नीचे बसर करनेवाले अधिकाधिक लोग दलितों एवं आदिवासियों में है । अमीरों की अधिक संख्या ऊँची जातीय समुदाय में है ।

गरीबी रेखा में नीचे जीवनवसर करनेवालों का प्रतिशत अनुपात

(वर्ष 1999 - 2000)

जाति और समुदाय	ग्रामीण	शहरी
अनुसूचित जनजातियाँ	45.8	35.6
अनुसूचित जातियाँ	35.9	38.3
अन्य पिछड़ी जातियाँ	27.00	29.5
मुसलमान अगड़ी जातियाँ	26.8	34.2
हिन्दू अगड़ी जातियाँ	11.7	9.9
ईसाई अगड़ी जातियाँ	9.6	5.4
ऊँची जाति के सिख	0.0	4.9
अन्य अगड़ी जातियाँ	16.0	2.7
सभी समूह	27.0	23.4

(साभार, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 5वाँ दौड़ 1999-2000)

राजनीति में जाति

कहा जाता है कि सामुदायिक समाज के संरचना की आधार जाति है क्योंकि एक जाति के लोग ही स्वाभाविक समुदाय का निर्माण करते हैं। इन समुदायों के लोगों के हित समान होते हैं। दूसरे अन्य समुदाय के हितों से इनका हित भिन्न होता है। फलत: भिन्न-भिन्न जातीय समुदायों के हितों में कोई मेल नहीं; परन्तु अनुभवों के आधार पर हमें यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि जाति हमारे जीवन का एक पहलू जरूर है, परन्तु यही एकमात्र या सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं है। राजनीति में जातियों के अनेक पहलू हो सकते हैं। यथा–

1. निर्वाचन के वक्त पार्टी अभ्यर्थी (candidate) तय करते समय जातीय समीकरण का ध्यान जरूर करती है । चुनाव क्षेत्र में जिस जाति विशेष की मतदाताओं की संख्या सबसे अधिक होती है, पार्टियाँ उस जाति के हिसाब से अभ्यर्थी (candidate) तय करती है, ताकि उन्हें चुनाव जीतने के लिए जरूरी वोट मिल जाए । सरकार गठन के समय भी जातीय समीकरण को ध्यान में रखा जाता है । इस बात का ख्याल किया जाता है कि विभिन्न जातियों और कबिल लोगों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाय ।
2. राजनीति पार्टियाँ जीत हासिल करने हेतु जातिगत भावना को भड़काने की कोशिश करते हैं; कुछ दल विशेष की पहचान भी जातिगत भावना के आधार पर हो जाती है ।
3. निर्वाचन के वक्त पार्टियाँ वोटरों के बीच साख बनाने हेतु अपना चेहरा स्वच्छ और जाति भावना से ऊपर बनाने की कोशिश करते हैं ।
4. दलित और नीची जातियों का भी महत्त्व निर्वाचन के वक्त बढ़ जाता है । उच्च वर्ग या जाति के उम्मीदवार भी नीची जातियों के सम्मुख नम्र भावना से जाते हैं और उनके मन हासिल करने हेतु अनुनय-विनय करते हैं । इन अवसरों पर नीची जातियों में भी आत्म गौरव जागृत होता है और स्वाभिमान जगता है । अर्थात् इन जातियों में राजनैतिक चेतना के सुअवसर प्राप्त होते हैं ।

चुनाव की जातीयता में ह्रास की प्रवृत्ति

यद्यपि प्राय: राजनीति में जातिगत भावना पर जोर दिया जाता है और यह धारणा बन जाती है कि चुनाव और कुछ नहीं बल्कि जातियों का खेल है । परन्तु ऐसी बात नहीं है । राजनीति में अन्य अवधारणाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है यथा–

1. किसी भी निर्वाचन क्षेत्र का गठन इस प्रकार नहीं किया गया है कि उसमें मात्र एक जाति के मतदाता रहे । ऐसा हो सकता है कि एक जाति के मतदाता की संख्या अधिक हो सकती है, परन्तु दूसरे जाति के मतदाता भी निर्णायक भूमिका निभाते हैं। अतएव हर पार्टी एक या एक से अधिक जाति के लोगों का भरोसा हासिल करना चाहता है ।

2. यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि कोई पार्टी विशेष केवल एक ही जाति का वोट हासिल कर सत्ता में आता है । जब लोग किसी जाति-विशेष को किसी एक पार्टी का वोट बैंक कहते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उस जाति के ज्यादातर लोग उसी पार्टी को वोट देते हैं ।

3. अगर किसी संसदीय या विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र में किसी एक जाति विशेष की अधिकाधिक संख्या हो तो चुनाव लड़ रहे सभी पार्टियाँ उसी जाति विशेष के लोगों को अभ्यर्थी बनाते हैं । ऐसा भी हो सकता है कि उस निर्वाचन क्षेत्र में किसी-किसी जाति के मतदाता के सामने उनकी जाति का एक भी उम्मीदवार नहीं हो ।

4. अगर जातीय भावना स्थायी और अटूट होता तो जातीय गोलबंद पर सत्ता में आनेवाले पार्टी की कभी हार नहीं होती है । यह माना जा सकता है कि क्षेत्रीय (Regional) पार्टियाँ जातीय गुटों से संबंध बनाकर सत्ता में आ जाए, परंतु अखिल भारतीय चेहरा पाने के लिए जाति विहीन, साम्प्रदायिकता के परे विचार रखना आवश्यक होगा ।

ऊपर लिखित तथ्यों पर गौर करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि राजनीति में जाति की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है परन्तु दूसरे कारक (other factors) भी कम असरदार नहीं होता । मतदाता अपनी जातियों से जितना संबंध रखते हैं, अक्सर उससे ज्यादा गहरा संबंध राजनीतिक दल में भी रखते हैं । फिर एक ही जातीय समुदाय में अमीर और गरीब लोग प्रायः अलग-अलग पार्टियों को वोट देते हैं । सरकार या राजनेताओं की लोकप्रियता उनके जातीय मुखौटा के कारण नहीं बढ़ती बल्कि उसके कामकाज के कारण बढ़ती है ।

जाति के अन्दर राजनीति अर्थात् जाति को राजनीति भी प्रभावित करते हैं- ऊपर हमने यह देखा कि जाति की भूमिका राजनीति में महत्त्वपूर्ण हैं । अर्थात् जाति राजनीति को प्रभावित करती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि राजनीति और जाति के बीच एक पक्षीय संबंध है। राजनीति भी जाति को प्रभावित करता है और राजनीति जाति भावना को उभारता है। जाति विशेष समुदाय को साथ लेने की कोशिश करता है जो कभी उससे अलग था।

1. कभी-कभी राजनीति का यह भी कोशिश रहता है कि करीब-करीब समान स्थिति वाले कई जातीय समुदायों को जोड़कर गठबंधन बनाया जाए और राजनीतिक सत्ता हासिल किया जाए । उत्तर भारत के कुछ प्रांतों में इस तरह के परिदृश्य अवश्य दिखायी पड़ते हैं । गठबंधन के जातियों के बीच मोल-भाव और संवाद चलता रहता है । दूसरे शब्दों में हम इसे जातियों का राजनीतिकरण की संज्ञा दे सकते हैं ।

2. संपूर्ण भारत की राजनीति आज पिछड़े, दलित, अल्पसंख्यक तथा वंचित समुदाय के ईर्द-गिर्द घुम रही है । अपनी सत्ता मजबूत करने हेतु इनके दुःस्थित को सुधारने में लगे हुए हैं। अतएव इसका सबसे बड़ा लाभ है कि भारत का सर्वांगीण विकास हो रहा है । आज राजनीति का केन्द्र बिन्दु इन वंचित तथा शोषित समूहों के आस-पास स्थित हो गया है । यह अनजाने ही सही, राजनीति का सकारात्मक पहलू है । अर्थात् आज के राजनीति का प्रमुख उद्देश्य दलितों, वंचित तथा पिछड़े जातियों को जमीन, संसाधन तथा अवसर उपलब्ध कराना हो गया है ताकि उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके । सत्ता में इनकी अधिक-से-अधिक भागीदारी के वायदे किए जा रहे हैं तथा इनका महत्त्व वोट बैंक के रूप में भी काफी बढ़ गया है ।

धर्म, सांप्रदायिकता एवं राजनीति

अब हम दूसरे प्रकार के सामाजिक विभाजन की चर्चा करेंगे । यह सामाजिक विभाजन धर्म पर आधारित होगा । भारत ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में धर्म पर आधारित इस प्रकार के सामाजिक विभाजन दृष्टिगोचर होते हैं । भारत के सदृश्य सभी देशों में भिन्न-भिन्न धर्म के अनुगामी विद्यमान है । उनकी आस्था दूसरे व्यक्ति के आस्था से भिन्न हो सकती है और आस्था पर आधारित उनके समुदाय के विचार अलग हो सकते हैं । यथा हमने पहले देखा है कि उत्तरी आयरलैंड में एक ही धर्म के दो अलग-अलग सामुदायिक गुट हैं- रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट। वर्चस्व को लेकर दोनों में तनाव की स्थिति है ।

भारत में भी एक ही धर्म के कई विश्वास की परंपरा है । यथा- हिन्दू धर्म में ही शैव परंपरा, वैष्णव, कबीर पंथी, जैनी तथा बौद्ध धर्मालंबी है ।

धर्म का राजनीतिकरण प्राय: अधिकांश देशों में कमोवेश दिखाई पड़ता है, जिसे हम निम्न दृष्टिकोण से परख सकते हैं–

1. गाँधीजी ने एक बार कहा था कि धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह नहीं निकालना चाहिए कि हिन्दू या इस्लाम धर्म को आधार मानकर राजनीति की नींव खड़ी की जाए। बल्कि उनका मानना था कि राजनीति का आधार नैतिक मूल्य होना चाहिए और राजनीति धर्म द्वारा स्थापित मूल्यों से निर्देशित होना चाहिए।
2. एक मानवाधिकार समूह के रिपोर्ट के अनुसार भारत में सांप्रदायिक दंगों का सबसे बड़ा शिकार अल्पसंख्यक समुदाय ही है। अतएव अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए विशेष संरक्षण की व्यवस्था होने चाहिए।
3. महिला आंदोलनों ने एक संदेश के माध्यम से यह स्पष्ट करने की कोशिश किया है कि सभी धर्मों में पारिवारिक कानून (family laws) महिलाओं के साथ भेदभाव रखती है। अर्थात् पारिवारिक कानून के उपबंध पुरुषों के तरफ ज्यादा झुका हुआ है, इससे महिलाओं में असुरक्षा, शोषण तथा अत्याचार के गुंजाईश अधिक है। अतएव ऐसे कानून में संशोधन होना चाहिए। परन्तु कोई भी दल इसके लिए तैयार दिखायी नहीं पड़ता।

ये सारी बातें धर्म और राजनीति से जुड़े हुए हैं। क्या ऊपर लिखित बातों पर गौर करने के बाद ऐसा लगता है कि धर्म एक गंदा विचार है और इसे राजनीति से दूर रखना चाहिए? वास्तव में विभिन्न धर्मों के अच्छे विचार, आदर्श तथा मूल्य (good ideas, ideals and values) का समावेश राजनीति में हो तो देश का कल्याण ही होगा। राजनीति में इनकी भूमिका अहम हो सकती है। हर व्यक्ति को एक धार्मिक समुदाय के तौर पर अपनी जरूरतों, हितों तथा न्याय संगत माँगों को राजनीति में जोर-शोर से उठाने का अधिकार होना चाहिए। राजनैतिक सत्ता को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। परन्तु प्रहरी के तौर पर राजनीतिक सत्ता को यह भी देखना चाहिए कि कोई धर्म किसी के साथ भेदभाव तो नहीं करता है या किसी पर अत्याचार तो नहीं कर रहा है। अर्थात् इस तरह के कामकाज का निषेध राजनीति में आवश्यक है।

सांप्रदायिकता

राजनीति में धर्म एक समस्या के रूप में तब खड़ी हो जाती है जब–

1. धर्म को राष्ट्र का आधार मान लिया जाता है ।
2. राजनीति में धर्म की अभिव्यक्ति एक समुदाय विशेष के विशिष्ठता के लिए की जाती है।
3. राजनीति किसी धर्म विशेष के दावे का पक्षपोषण (support) करने लगती है ।
4. किसी धर्म विशेष के अनुयायी दूसरे धर्मावलंबियों के खिलाफ मोर्चा खोलने लगता है । ऐसा तब होता है जब एक धर्म के विचारों का दूसरे धर्म के विचारों से श्रेष्ठ माने जाने लगता है और एक धार्मिक समूह अपनी माँगों को दूसरे समूह के विरोध में खड़ा करने लगता है । इस प्रक्रिया में राज्य अपनी सत्ता का उपयोग किसी एक धर्म विशेष के पक्ष में करने लगता है तो समस्या और गहरी हो जाता है तथा दो धार्मिक समुदाय में हिंसात्मक तनाव (Riot) शुरू हो जाता है।

राजनीति में धर्म को इस तरह इस्तेमाल करना ही सांप्रदायिकता (communalism) कहलाता है ।

सांप्रदायिकता की परिभाषा– जब हम यह कहना शुरू करते हैं कि धर्म ही समुदाय का निर्माण करती है तो सांप्रदायिक राजनीति जन्म लेने लगती है और इस अवधारणा पर आधारित सोच ही सांप्रदायिकता है । इसके अनुसार एक धर्म विशेष में आस्था रखनेवाले एक ही समुदाय के होते हैं उनके मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण हित एक जैसे होते हैं । यद्यपि इस धर्म विशेष समुदाय के सदस्यों में मतभेद हो सकते हैं । परन्तु इस मतभेद का कोई अहमियत नहीं होती और सभी को एक तरह का सोच रखना आवश्यक है । इस धर्म विशेष समुदाय के सदस्यों का यह मत भी होता है कि दूसरे धर्म के लोगों की सोच और हित उनसे विपरीत हो। यद्यपि कई धर्म-समुदाय अपने सोच में एकता दर्शाते हैं, तो यह केवल ऊपरी (superfluous) होती है । निश्चित रूप से अलग-अलग धर्म समुदाय के लोगों के हित अलग होंगे ही और उनमें तनाव की गुंजाईश अधिक होगी । समुदाय विशेष के सोच जब उग्र होने लगता है तो यह तनाव भी उग्र हो जाता है और हिंसात्मक विरोध (Riot) शुरू हो जाता है । विचार पनपने लगता है कि एक ही राष्ट्र में समान नागरिक के तौर पर दूसरे धर्म समुदाय के लोग नहीं रह सकते हैं। इस मानसिकता के

अनुसार दूसरे धर्मालंबियों को मजबूर कर दिया जाता है कि या तो वे अपना अलग राष्ट्र (Nation State) बनाए या उसके धर्म के वर्चस्व को स्वीकार करें तथा उसपर थोपे गए निर्देश का निर्वहन करें।

इस तरह की अवधारणा बहुत ही गलत है क्योंकि हर व्यक्ति की आकांक्षाएँ निश्चित रूप से एक नहीं हो सकती। हर व्यक्ति का समाज में अलग-अलग भूमिका है। उनकी स्थिति और हैसियत अलग-अलग है। उनका विचार अलग-अलग है। उनके विचार की अभिव्यक्ति भी अलग-अलग हो सकती है। अतएव एक-एक धार्मिक समुदाय के लोगों द्वारा दूसरे धर्म के अनुयायियों पर आक्रमण कर देना, उनका विरोध करना अथवा उनको देश से बाहर करना बिल्कुल न तो तार्किक है और न ही न्याय संगत। अतएव एक धर्म में जुड़े सभी लोगों को किसी गैर-धार्मिक संदर्भ में एक करके देखना उस समुदाय के विभिन्न आवाजों, अवधारणाओं तथा विचारों का दमन करना है।

राजनीति में सांप्रदायिकता के स्वरूप– हम प्रत्येक दिन सांप्रदायिकता की अभिव्यक्ति देखते हैं, महसूस करते हैं, यथा धार्मिक पूर्वाग्रह, परंपरागत धार्मिक अवधारणाएँ एवं एक धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ मानने की मान्यताएँ (Religions prejudices, steriotypes of religions communities and belief in the superiosity of one's religion over other religion)। हालाँकि ये सारी चीजें बिल्कुल साधारण सी बात है परन्तु यह सोच हमारे अंदर बैठा है। अतएव यह भी सांप्रदायिकता का एक रूप है–

1. सांप्रदायिकता की सोच प्राय: अपने धार्मिक समुदाय का प्रमुख राजनीति में बरकरार रखना चाहता है। जो लोग बहुसंख्यक समुदाय के होते हैं उनकी यह कोशिश बहुसंख्यकवाद (majoritatian dominance) का रूप ले लेती हैं। उदाहरणार्थ श्रीलंका में सिंहलियों का बहुसंख्यकवाद। यहाँ लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित सरकार ने भी सिंहली समुदाय की प्रभुता कायम करने के लिए अपने बहुसंख्यक परस्ती (majoritatian measures) के तहत कई कदम उठाए। यथा– 1956 में सिंहली को एकमात्र राजभाषा के रूप में घोषित करना, विश्वविद्यालय और सरकारी नौकरियों में सिंहलियों को प्राथमिकता देना, बौद्ध धर्म के संरक्षण हेतु कई कदम उठाना आदि।

2. सांप्रदायिकता के आधार पर राजनीति गोलबंदी (political mobilisation on religious lines) सांप्रदायिकता का दूसरा रूप है । इस हेतु पवित्र प्रतीकों (sacret symbols), धर्म गुरुओं और भावनात्मक अपील आदि का सहारा लिया जाता है । निर्वाचन के वक्त हम अक्सर ऐसा देखते हैं । किसी खास धर्म के अनुयायियों से किसी पार्टी विशेष के पक्ष में मतदान करने की अपील कराई जाती है ।

3. और अंत में सांप्रदायिकता का भयावह रूप तब हम देखते हैं, जब संप्रदाय के आधार पर हिंसा, दंगा और नरसंहार होता है । विभाजन के समय हमने इस त्रासदी को झेला है । आजादी के बाद भी कई जगहों पर बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक हिंसा हुई है ।

धर्मनिरपेक्ष शासन की अवधारणा

हमारे संविधान निर्माताओं को सांप्रदायिकता के इस भयावह चेहरा की परिकल्पना पहले से थी । अतएव भारत में शासन का धर्म निरपेक्ष मॉडल चुना गया और हमारा देश धर्मनिरपेक्ष (secular) देश बना । हमारे संविधान में धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना हेतु अनेक उपबंध किये गए हैं–

1. हमारे देश में किसी भी धर्म को राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है । श्रीलंका में बौद्ध धर्म, पाकिस्तान में इस्लाम और इंगलैंड में ईसाई धर्म का जो दर्जा दिया गया है, उसके विपरीत भारत का संविधान किसी धर्म को विशेष दर्जा नहीं देता ।

2. संविधान में हर नागरिक को यह स्वतंत्रता दी गई है कि अपने विश्वास से वह किसी धर्म को अंगीकार कर सकता है । इस आधार पर उसे किसी अवसर से वंचित नहीं किया जा सकता है । प्रत्येक धर्मावलंबियों को अपने धर्म का पालन करने अथवा शांतिपूर्ण ढंग से प्रचार करने का अधिकार है । इस हेतु वह शिक्षण संस्थाओं को स्थापित और संचालित कर सकता है ।

3. हमारे संविधान के अनुसार धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव असंवैधानिक घोषित है ।

4. संविधान के अनुसार धार्मिक समुदाय में समानता स्थापित करने के लिए धार्मिक मामलों

में भी दखल दिया जा सकता है । यथा छुआछूत की इजाजत शासन नहीं देता है ।

धर्म निरपेक्षता केवल विचारधारा ही नहीं है बल्कि संविधान ही बुनियाद है । जबकि सांप्रदायिकता भारत की बुनियादी अवधारणा के लिए एक चुनौती है ।

लैंगिक मसले और राजनीति

लैंगिक असमानता सामाजिक असमानता का एक महत्त्वपूर्ण रूप है । यद्यपि लैंगिक असमानता सामाजिक संरचना के हर क्षेत्र में दिखाई पड़ता है, परन्तु राजनीति के अध्ययन में शायद ही इस बात की पहचान की जाती है । यहाँ हम स्त्री और पुरुष के जैविक बनावट की ओर ध्यान नहीं देंगे, बल्कि इन दोनों के बारे में प्रचलित रूढ़िवादी छवियाँ और तयशुदा सामाजिक भूमिका के बारे में विवेचना करेंगे ।

लैंगिक विभेद पर आधारित सामाजिक विभाजन सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र दोनों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है । लड़के और लड़कियों के पालन-पोषण के क्रम में ही परिवार में यह भावना घर कर जाती है कि भविष्य में लड़कियों की मुख्य जिम्मेवारी गृहस्थी चलाने और बच्चों का पालन-पोषण तक ही सीमित होती है और इसकी पुष्टि श्रम के लैंगिक विभाजन (sexual division of labour) से हो जाती है । यह प्रवृति कमोवेश सभी परिवारों में देखा जा सकता है । महिलाओं का कार्यक्षेत्र घर के अंदर तक ही सीमित रहता है । उनका काम खाना बनाना, कपड़ा साफ करना, सिलाई-फड़ाई करना तथा बच्चे का पालन-पोषण आदि है । इसका आधार कोई जैविक नहीं है । पुरुष भी इन कार्यों को भलीभाँति कर सकता है । परन्तु पुरुष वर्ग के दिमाग में यह विचारधारा घर बना चुका है कि औरतों का जन्म इस कार्य को ही करने के लिए हुआ । पुरुष वर्ग महिलाओं की यही तयशुदा सामाजिक भूमिका मानता है । परन्तु काम के इस प्रकृति के लिए जहाँ पैसा चुकाया जाता है वहाँ मर्द खुशी-खुशी इस कार्य को करते हैं । ऐसा कार्य करने में वे अपने को हीन नहीं समझते । अगर वही मर्द अपने घर के अन्दर बर्तन साफ करें, खाना बनाए या सिलाई-फड़ाई करें तो उसे लोग स्त्रैण की संज्ञा देने लगते हैं । समाज में उनपर छीटाकसी की जाती है ।

हम यह भी देखते हैं कि होटल में खाना बनानेवाले अधिकांश पुरुष ही हैं उसी प्रकार महिला पुरुषों की तरह घर की आवश्यकता के लिए बाहर से पानी भी लाती है । जलावन भी चूनकर इकट्ठा करती है तथा खेतों में कार्य करती है । हालाँकि इसके लिए उसे कीमत नहीं दिया जाता । फिर स्त्रियाँ किसी मध्यम परिवार में घरेलू कार्य करती हैं तो उसे कीमत दिया जाता है। मध्यम वर्गीय परिवार की महिलाएँ दफ्तर जाती है । यहाँ महिलाओं के बारे में एक सच्चाई तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अधिकतर महिलाएँ अपने घरेलू कार्य के अतिरिक्त अपनी आमदनी के लिए जो अतिरिक्त कार्य करती है तो उसके ऐसे कार्य को ज्यादा मूल्यवान नहीं समझा जाता। उन्हें दिन-रात काम करने का भी श्रेय नहीं मिलता है ।

फिर भी आधुनिक दौड़ में महिलाएँ जीवन के हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है । भारत कृषि प्रधान देश है और यहाँ के लोगों के आजीविका का मुख्य स्रोत कृषि है । अँग्रेजी में फार्मर या हिन्दी में किसान शब्द में किसान शब्द का उच्चारण करने पर लोगों की सोच में पुरुष का चेहरा ही उभरता है । शब्दों की रचना करनेवालों से लेकर नीति-निर्माताओं तक ने कृषि क्षेत्र में जुड़ी महिलाओं के योगदान को कमतर आँका है । जबकि सच्चाई यह है कि आज कृषि का स्थिरकरण हो रहा है । 1991 व 2001 जनगणना के आँकड़े बताते हैं कि इन बीते दशक में कृषि क्षेत्र में महिलाओं की संख्या में वृद्धि हुई है । इन बातों की पुष्टि निम्नलिखित आँकड़ों से हो जाती है-

1. कृषि कार्य क्षेत्र में महिलाओं की कुल भागीदारी 40 प्रतिशत है ।
2. आज की तारीख में कुल पुरुष कामगारों में 53 प्रतिशत पुरुष और महिला कामगारों में 75 प्रतिशत महिलाएँ कृषि क्षेत्र में हैं ।
3. ग्रामीण महिला कामगारों में 85 प्रतिशत महिला कृषि से जुड़ी विभिन्न काम करती है ।

इस तरह हम पाते हैं कि भारत के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र कृषि में महिलाओं की भागीदारी कुछ कम नहीं है । परन्तु बिडंबना यह है कि कृषि क्षेत्र में संलग्न महिलाओं को पुरुष के बराबर मेहनताना नहीं दिया जाता । समाज में उनके प्रति नजरिये में बदलाव नहीं आया है । इस तरह के शोषण के विरुद्ध महिलाओं ने आवाज उठाना शुरू कर दी । महिला प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के

बराबर दर्जा प्राप्त करने हेतु गोलबंद होना शुरू किया । महिला आंदोलन इसी कड़ी का सिलसिला है ।

वास्तव में सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्र पुरुष के कब्जे में है । यद्यपि मनुष्य जाति के आबादी में औरतों का हिस्सा आधा है पर सार्वजनिक जीवन में खासकर राजनीति में उनकी भूमिका नगण्य है । पहले सिर्फ पुरुष वर्ग को ही सार्वजनिक मामलों में भागीदारी करने, वोट देने या सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव लड़ने की अनुमति थी । सार्वजनिक जीवन में हिस्सेदारी हेतु महिलाओं को काफी मेहनत करनी पड़ी । धीरे-धीरे राजनीति में मुद्दे उठे और महिलाओं को भी सार्वजनिक जीवन में अवसर प्राप्त होने लगा । सर्वप्रथम इंगलैंड में सन् 1918 में महिलाओं को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ । धीरे-धीरे महिलाओं के वोट का अधिकार अन्य लोकतांत्रिक देशों में प्राप्त होने लगा । वास्तव में लैंगिक विभाजन की राजनीतिक अभिव्यक्ति और इस सवाल पर राजनीति गोलबंदी ने सार्वजनिक जीवन में औरत की भूमिका को बढ़ाने में मदद की । आज हम सभी क्षेत्रों में महिलाओं की उपस्थिति देखते हैं । आज महिलाएँ वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रबंधक, कॉलेज और विश्वविद्यालय शिक्षक जैसे पेशे में दिखाई पड़ती है । स्वीडेन, नार्वे और फिनलैंड में सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की भागीदार का स्तर काफी ऊँचा है ।

भारत में तस्वीर अभी भी उतना संतोषजनक नहीं है । हमारा समाज अभी भी पितृ-प्रधान है । औरतों के साथ भी कई तरह के भेदभाव होते हैं । इस बात का संकेत निम्न तथ्यों से मिलता है–

1. महिलाओं में साक्षरता की दर अब भी मात्र 54 फीसदी है जबकि पुरुष में 76 फीसदी। यद्यपि स्कूली शिक्षा में कई जगह लड़कियाँ अब्बल रही है फिर भी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाली लड़कियों का प्रतिशत बहुत ही कम है । इस संदर्भ के लिए माता-पिता के नजरिये में भी फर्क है । माता-पिता की मानसिकता बेटों पर अधिक खर्च करने की होती है । यही कारण है कि उच्च शिक्षा में लड़कियों की संख्या सीमित है ।
2. शिक्षा में लड़कियों के इसी पिछड़ेपन के कारण अब भी ऊँची तनख्वाह वाले और ऊँचे पदों पर पहुँचने वाली महिलाओं की संख्या बहुत ही कम है ।

3. यद्यपि एक सर्वेक्षण के अनुसार एक औरत औसतन रोजाना साढ़े सात घंटे से ज्यादा काम करती है, जबकि एक मर्द औसतन रोज छः घंटे ही काम करता है । फिर भी पुरुषों द्वारा किया गया काम ही ज्यादा दिखाई पड़ता है, क्योंकि उससे आमदनी होती है । हालाँकि औरतें भी ढेर सारे ऐसे काम करती है जिनके प्रत्यक्ष रूप से आमदनी होती है लेकिन इनका ज्यादातर काम घर के चहार दीवारी के अंदर होती है । इसके लिए उन्हें पैसा नहीं मिलते इसलिए औरतों का काम दिखाई नहीं देता ।
4. लैंगिक पूर्वाग्रह का काला पक्ष बड़ा दुखदायी है जब भारत के अनेक हिस्से में माँ–बाप को सिर्फ लड़के की चाह होती है। लड़की को जन्म लेने से पहले हत्या कर देने की प्रवृति इसी मानसिकता का परिणाम है ।

महिलाओं का राजनीतिक प्रतिनिधित्व– औरतों के प्रति समाज के इस घटिया नजरिया के कारण ही आंदोलन की शुरुआत होने लगी । महिला आंदोलन की मुख्य माँगों में सत्ता में भागीदारी की माँग सर्वोपरी रही । औरतों ने सोचना शुरू कर दिया कि जबतक औरतों का सत्ता पर नियंत्रण नहीं होगा तबतक इस समस्या का निपटारा नहीं होगा । फलतः राजनीति गलियारों में इस बात पर बहस छिड़ गयी कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने का उत्तम तरीका यह होगा कि चुने हुए प्रतिनिधियों की हिस्सेदारी बढ़ायी जाए । यद्यपि भारत के लोकसभा में महिला प्रतिनिधियों की संख्या 59 हो गई है । फिर भी इसका प्रतिशत 11 प्रतिशत के नीचे ही है । विकसित देशों में भी विधायिका महिला प्रतिनिधियों की संख्या संतोषजनक नहीं है । ग्रेट–ब्रिटेन में 19.3 प्रतिशत महिला प्रतिनिधि है, तो संयुक्त राज्य अमेरिका इनका प्रतिशत 16.3 हैं । इसी प्रकार इटली में आज के समय महिला प्रतिनिधियों का प्रतिशत 16.1 है, तो आयरलैंड में इनका प्रतिशत लगभग 16.2 है । फ्रांस जैसे विकसित देश में महिला प्रतिनिधियों का प्रतिशत 13.9 है। पश्चिमी देशों में 70 प्रतिशत महिला वैसे परिवार से आती हैं जिसका पारिवारिक पृष्ठभूमि राजनीति है । पिछले लोकसभा चुनाव में 40 प्रतिशत महिलाओं की पारिवारिक पृष्ठभूमि अपराधिक था । परन्तु इस बार 15वीं लोकसभा चुनाव में मतदाताओं ने अपराधियों को नकार दिया । 90 प्रतिशत महिला सांसद स्नातक है (भारत में) । आज भी आम पारिवारिक महिलाओं को सांसद बनने का अवसर क्षीण है । महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ना लोकतंत्र के लिए शुभ है ।

विक्टर युगों ने इस संदर्भ में लिखा है–

'पुरुषों के पास दृष्टि होती है;

और स्त्रियों के पास अंतरदृष्टि ।

इसीलिए वे चीजों को;

अपेक्षाकृत अधिक दूर तक देख सकती है।

प्रश्नावली

1. हर सामाजिक विभिन्नता सामाजिक विभाजन का रूप नहीं लेती । कैसे ?
2. सामाजिक अंतर कब और कैसे सामाजिक विभाजनों का रूप ले लेते हैं ?
3. 'सामाजिक विभाजनों की राजनीति के परिणामस्वरूप ही लोकतंत्र के व्यवहार में परिवर्तन होता है' । भारतीय लोकतंत्र के संदर्भ में इसे स्पष्ट करें ।
4. सत्तर के दशक से आधुनिक दशक के बीच भारतीय लोकतंत्र का सफर (सामाजिक न्याय के संदर्भ में) का संक्षिप्त वर्णन करें ।
5. सामाजिक विभाजनों की राजनीति का परिणाम किन-किन चीजों पर निर्भर करता है ?
6. **सामाजिक विभाजनों को संभालने के संदर्भ में इनमें से कौन-सा बयान लोकतांत्रिक व्यवस्था पर लागू नहीं होता ?**

   (क) लोकतंत्र में राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के चलते सामाजिक विभाजनों की छाया (Reflection) राजनीति पर भी पड़ता है ।

   (ख) लोकतंत्र में विभिन्न समुदायों के लिए शांतिपूर्ण ढंग से अपनी शिकायतें जाहिर करना संभव है ।

   (ग) लोकतंत्र सामाजिक विभाजनों को हल (accommodate) करने का सबसे अच्छा तरीका है ।

   (घ) लोकतंत्र सामाजिक विभाजनों के आधार पर (on the basis of social division) समाज के विखंडन (disintegration) की ओर ले जाता है।

7. **निम्नलिखित तीन बयानों पर विचार करें–**

(क) जहाँ सामाजिक अंतर एक-दूसरे से टकराते हैं (social differences overlap), वहाँ सामाजिक विभाजन होता है।

(ख) यह संभव है एक व्यक्ति की कई पहचान (multiple indentities) हो।

(ग) सिर्फ भारत जैसे बड़े देशों में ही सामाजिक विभाजन होते हैं ।

इन बयानों में से कौन-कौन से बयान सही है–

(अ) क, ख और ग (ब) क और ख (स) ख और ग (द) सिर्फ ग

8. **निम्नलिखित व्यक्तियों में कौन लोकतंत्र में रंगभेद के विरोधी नहीं थे।**

(क) किंग मार्टिन लुथर

(ख) महात्मा गाँधी

(ग) ओलंपिक धावक टोमी स्मिथ एवं जॉन कॉर्लेस

(घ) जेड गुडी

9. **निम्नलिखित का मिलान करें–**

(क) पाकिस्तान	(अ) धर्मनिरपेक्ष
(ख) हिन्दुस्तान	(ब) ईस्लाम
(ग) इंगलैंड	(स) प्रोटेस्टेंट

10. भावी समाज में लोकतंत्र का जिम्मेवारी और उद्देश्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें ।

11. भारत में किस तरह जातिगत असमानताएँ जारी है ? स्पष्ट करें ।

12. क्यों सिर्फ जाति के आधार पर भारत में चुनावी नतीजे तय नहीं हो सकते ? इसके दो कारण बतायें ।

13. विभिन्न तरह की सांप्रदायिक राजनीति का ब्योरा दें और सबके साथ एक-एक उदाहरण दें।

14. जीवन के विभिन्न पहलुओं का जिक्र करें जिसमें भारत में स्त्रियों के साथ भेदभाव है या वे कमजोर स्थिति में हैं ।

15. भारत की विधायिकाओं में महिलाओं के प्रतिनिधित्व की स्थिति क्या है ?

16. किन्हीं दो प्रावधानों का जिक्र करें जो भारत को धर्मनिरपेक्ष देश बनाता है ?

17. जब हम लैंगिक विभाजन की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है–

(क) स्त्री और पुरुष के बीच जैविक अंतर ।

(ख) समाज द्वारा स्त्रियों और पुरुषों को दी गई असमान भूमिकाएँ ।

(ग) बालक और बालिकाओं की संख्या का अनुपात ।

(घ) लोकतांत्रिक व्यवस्था में महिलाओं को मतदान का अधिकार न मिलना ।

18. भारत में यहाँ औरतों के लिए आरक्षण की व्यवस्था है–

(क) लोकसभा (ख) विधानसभा (ग) मंत्रिमंडल (घ) पंचायती राज्य संस्थाएँ

19. सांप्रदायिक राजनीति के अर्थ संबंधि निम्न कथनों पर गौर करें । सांप्रदायिक राजनीति किस पर आधारित है–

(अ) एक धर्म दूसरे से श्रेष्ठ है ।

(ब) विभिन्न धर्मों के लोग समान नागरिक के रूप में खुशी-सुखी साथ रहते हैं ।

(स) एक धर्म के अनुयायी एक समुदाय बनाते हैं ।

(द) एक धार्मिक समूह का प्रभुत्व बाकी सभी धर्मों पर कायम रहने में शासन की शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता है ।

20. भारतीय संविधान के बारे में इनमें से कौन-सा कथन सही है–

(क) यह धर्म के आधार पर भेदभाव की मनाही करता है।

(ख) यह एक धर्म को राजकीय धर्म बनाता है ।

(ग) सभी लोगों को कोई भी धर्म मानने की आजादी देता है ।

(घ) किसी धार्मिक समुदाय में सभी नागरिकों को बराबरी का अधिकार देता है ।

21. .... पर आधारित विभाजन सिर्फ भारत में है ।

22. सूची I और सूची II का मेल कराएँ :

सूची I	सूची II
1. अधिकारों और अवसरों के मामले में स्त्री और पुरुष की बराबरी माननेवाला व्यक्ति	(क) सांप्रदायिक
2. धर्म को समुदाय का मुख्य आधार माननेवाला व्यक्ति	(ख) नारीवादी
3. जाति को समुदाय का मुख्य आधार माननेवाला व्यक्ति	(ग) धर्म निरपेक्ष
4. व्यक्तियों के बीच धार्मिक आस्था पर आधार पर भेदभाव न करनेवाला व्यक्ति	(घ) जातिवादी

*